

वन अधिकार कानून की परीक्षा वन क्षेत्रों में

सुनील

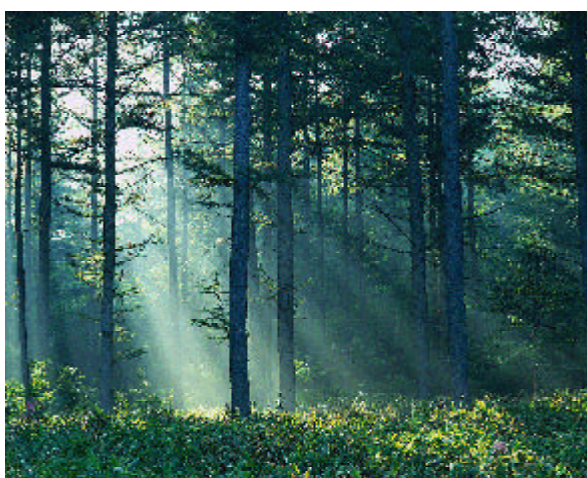
लंबे टालमटोल के बाद आखिरकार आदिवासियों और अन्य वनवासियों को वन क्षेत्रों में अधिकार देने वाला कानून लागू हो गया है। इस कानून के लिए भारत के जंगलों में रहने वाले गांववासियों, उनके संगठनों और समर्थकों को

एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाना पड़ा। दो साल तक तो यह कानून संसद भवन और मंत्रालयों के गलियारों में भटकता रहा। कई मसौदे बने, बिगड़े, सुधरे, बदले। पर्यावरणवादियों ने तो आसमान सर पर उठा लिया मानो इस कानून के बनने से देश के पूरे जंगल का नाश हो जाएगा। एक बार संसद में पेश होने के

बाद इसे संसदीय समिति को सौंप दिया गया, जिसकी कार्यवाही लंबी चली। इसके सर्वसम्मत मसौदे को भी सरकार ने लंबे समय तक दबा कर रखा। फिर हो-हल्ला होने पर लोकसभा में पेश किया, तब आखिरी वक्त में इसमें कई बदलाव कर दिए गए। अफसरशाही भी अपनी चालें चलने से बाज़ नहीं आई। उसने बार-बार दिखाया कि वह आदिवासियों को अधिकार देने के पक्ष में नहीं है। संसद में पास होने और राष्ट्रपति के दस्तखत होने के बाद भी यह कानून लागू नहीं हुआ, क्योंकि सरकार ने इसके नियम नहीं बनाए।

आखिरकार चुनाव नज़दीक आने लगे तो सरकार को सुध आई। 31 दिसम्बर 2007 को नियमों की अधिसूचना जारी हुई और 1 जनवरी 2008 से यह कानून लागू हुआ। मध्यप्रदेश जैसे राज्यों के विधानसभा चुनाव अगले लोकसभा चुनाव से पहले ही हो जाएंगे, इसलिए वहां और जल्दी की

जा रही है। लेकिन यह समय ही बताएगा कि वंचित मूल बाशियों को इस कानून से व्यवहार में कितने और कहां तक अधिकार मिल पाएंगे। इसका कारण यह है कि कानून और नियमों में अभी भी अनेक अस्पष्टताएं, कमियां तथा रास्ते छोड़े गए हैं।



इस कानून में दो तरह के अधिकारों का प्रावधान है। एक तो ज़मीन पर व्यक्तिगत अधिकार, जो 13 दिसंबर 2005 तक काबिज लोगों को मिलेंगे। दूसरे सामुदायिक अधिकार, जैसे निस्तार, चराई, लघु वनोपज, पानी, मछली आदि के अधिकार। वन ग्रामों को राजस्व ग्राम में बदलने का

प्रावधान है। अंग्रेज़ों ने वन क्षेत्रों में बंधुआ मज़दूर उपलब्ध कराने के लिए वन ग्राम बनाकर रखे थे, जिन्हें कोई अधिकार नहीं दिए गए थे। गुलामी की इस विरासत को देश आज़ाद होते ही खत्म कर देना चाहिए था। इस कानून में वन क्षेत्रों के गांवों के विकास के लिए स्कूल, अस्पताल, आंगनवाड़ी, सड़क, बिजली लाइन, छोटे बंधान, लघु सिंचाई आदि के लिए ढाई एकड़ तक वन भूमि देने का प्रावधान करके भी एक बड़ी रुकावट दूर कर दी गई है। नहीं तो, वहां के सरपंच बेचारे अनुमति के लिए वन अफसरों के चक्कर लगाते रहते थे। वन ग्रामों में लगभग सारे विकास कार्य रुक गए थे।

इस कानून में एक बड़ी खामी यह है कि ग्राम सभाओं को फैसला करने का पूरा अधिकार नहीं दिया गया है। उनके ऊपर उपखण्ड तथा ज़िला स्तर पर दो समितियां बैठा दी गई हैं, जिनमें अफसरों का वर्चस्व रखा गया है।

सरकार द्वारा जारी नियमों में एस.डी.एम. को उपखण्ड समिति तथा कलेक्टर को ज़िला समिति का अध्यक्ष बनाया गया है। अंतिम फैसला ज़िला समिति करेगी। आदिवासी इलाकों में ग्राम सभाओं में भी सरकार द्वारा भेजे गए नोडल अधिकारी तथा पंचायत सचिव की ही ज़्यादा चलती है। सीधे-सादे आदिवासी कई बार अपनी बात ग्राम सभाओं में दर्ज ही नहीं करा पाते हैं। फिर नियमों में ग्राम सभा का कोरम भी दो-तिहाई रखा गया है, जो बिल्कुल अव्यावहारिक है। चुनावों में, राजनैतिक दलों के पूरा जोर लगाने पर भी 55-60 प्रतिशत से ज़्यादा मतदान नहीं हो पाता है। तब इन ग्राम सभाओं में 67 प्रतिशत लोग कैसे जुटेंगे? पंचायत राज कानून में ग्राम सभा का कोरम एक तिहाई है, वह भी कई बार पूरा नहीं होता है।

अशिक्षित गरीब वनवासियों के लिए अपना कब्ज़ा या अधिकार साबित करना भी एक टेढ़ी खीर होगी। नियमों में कम से कम दो तरह के सबूत पेश करना अनिवार्य किया गया है। यह गलत है और कानून की मूल भावना के खिलाफ है। किसान द्वारा ज़मीन पर लगाए गए पेड़ों को सबूतों की सूची में शामिल नहीं किया गया है, जबकि यह एक महत्वपूर्ण और व्यावहारिक सबूत होता है। परंपरा से चले आ रहे सामुदायिक अधिकारों के लिए सबूत पेश करना तो और भी मुश्किल होगा।

वन अधिकार कानून का एक बड़ा दोष है कि इसमें गैर-आदिवासियों को उस स्थान पर तीन पीढ़ियों से अपना निवास प्रमाणित करना होगा। तीन पीढ़ियों का मतलब 75 वर्ष माना गया है। अधिकांश लोगों के लिए 75 वर्ष पुराने प्रमाण जुटाना लगभग असंभव होगा। शहरों में रहने वाले अधिकांश पढ़े-लिखे लोगों के लिए भी इस तरह के प्रमाण जुटाना बहुत मुश्किल होगा।

अधिकांश वन क्षेत्रों के गांवों में आदिवासियों के अलावा कई प्रकार के दलित व पिछड़ी जातियों के लोग रहते हैं। ये भी जंगलों पर आश्रित हैं। उनकी माली हालत भी आदिवासियों से ज़्यादा अलग नहीं है। कुछ मामलों में तो उनकी वेशभूषा और रीति-रिवाज़ भी आदिवासियों से ज़्यादा भिन्न नहीं हैं, जैसे दक्षिणी मध्यप्रदेश में गोली, कतिया आदि या राजाजी

राष्ट्रीय उद्यान में वन गूजर। इन सब लोगों को वंचित करके इस कानून ने एक बड़ा अन्याय किया है। इससे इन इलाकों में आदिवासियों व अन्य गरीब ग्रामवासियों के बीच एक अनावश्यक दीवार भी खड़ी होगी।

राष्ट्रीय उद्यानों व अभयारण्यों के अंदर या उनके आसपास रहने वाले ग्रामवासियों के अधिकारों का सवाल भी एक बड़ा सवाल है, जिसे इस कानून में पूरी तरह हल नहीं किया गया है। पिछले कुछ समय से इन क्षेत्रों में लगातार या तो गांवों को विस्थापित किया जा रहा है या उनके द्वारा जंगल के उपयोग एवं वनोपज-संग्रह पर रोक लगाई जा रही है। हद तो तब हो गई, जब पिछले दिनों मध्यप्रदेश के होशंगाबाद ज़िले में तवा बांध से विस्थापित आदिवासियों के मत्स्याखेट पर भी रोक लगा दी गई, तथा उनकी सहकारिता के एक अच्छे प्रयोग को बीच में ही रोक दिया गया। इस कानून से यह विसंगति दूर हो सकती थी, लेकिन ऐसा लगता है कि यह मौका खो दिया गया है। कानूनी उलझनों व दांव पेंच चलते रहेंगे, जिनमें सुदूर जंगलों में रहने वाले आदिवासियों का जीतना काफी मुश्किल होगा।

कहने को तो यह कानून राष्ट्रीय उद्यानों व अभयारण्यों में भी लागू होगा और वहां भी अधिकार मिलेंगे लेकिन कानून में यह भी प्रावधान कर दिया गया है कि बाद में वन्य प्राणियों के जीवन पर संकट के नाम पर ये अधिकार खत्म किए जा सकते हैं और लोगों को हटाया जा सकता है। इसके लिए कुछ शर्तें ज़रूर रख दी गई हैं। सरकार को साबित करना होगा कि लोगों की उपस्थिति से वन्य प्राणियों को स्थाई नुकसान होता है, उनका अस्तित्व खतरे में है तथा सहअस्तित्व संभव नहीं है। फिर लोगों के पुनर्वास की भी शर्त है। लेकिन अनुभव यही है कि यह पुनर्वास ठीक से नहीं होता है। लोगों की ज़िंदगियां बरबाद हो जाती हैं।

अभी तक देश के सारे राष्ट्रीय उद्यानों और अभयारण्यों में आंख मूंदकर यह मान लिया गया है कि वहां के आदिवासियों और अन्य ग्रामवासियों के रहने एवं जंगल का इस्तेमाल करने तथा वन्य प्राणियों के जीवन में एक अनिवार्य टकराव है। दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते। हकीकत यह है कि सदियों से आदिवासी, जंगल तथा जंगली जानवर साथ रहते

आए हैं तथा उनका अस्तित्व एक दूसरे से घुला-मिला है। इस सच्चाई को बिल्कुल नकार दिया गया। यह एक विदेशी सोच थी। वनों और वन्य जीवन को असली खतरा आधुनिक विकास, शहरीकरण और आधुनिक जीवन की बढ़ती मांगों से है, इस तथ्य को छुपाने में भी इससे मदद मिली। यह सोच अवैज्ञानिक भी है, क्योंकि इसको परखने के लिए किसी तरह के अध्ययन भी नहीं किए गए। आधुनिक जीवन के कई 'अंधविश्वासों' में से यह एक है। पिछले दिनों सुश्री सुनीता नारायण की अध्यक्षता में बनी टाईगर टास्क फोर्स की रपट ने ज़रूर इस अंधविश्वास पर सवाल खड़े किए थे।

इस मायने में नया वन अधिकार कानून स्वागत योग्य है कि यह इस अंधविश्वास को मानने से इंकार करता है तथा सरकार के ऊपर ज़िम्मेदारी डालता है कि वह गांव और जंगली जानवरों में टकराव साबित करे। लगभग इसी के साथ संसद में वन्य प्राणी संरक्षण कानून में एक संशोधन टाइगर रिज़र्व के बारे में पारित हुआ है, उसमें भी इसी तरह की शर्तें रखी गई हैं। लेकिन अफसोस है कि यह साबित करने का काम फिर सरकारी अफसरों और विशेषज्ञों के हाथ में छोड़ दिया गया है। उसमें जन भागीदारी के कोई स्पष्ट प्रावधान नहीं किए गए। जंगल में जन्म लेने वाला, दिन-रात विचरने वाला और जंगल में ही मरकर दफन होने वाला आदिवासी जंगल का असली जानकार और विशेषज्ञ है। उसकी कोई आवाज़ इस प्रक्रिया में होगी या नहीं, यह स्पष्ट नहीं है। कानून की अस्पष्टता को नियमों में दूर किया जा सकता था, लेकिन आश्चर्यजनक रूप से नियम भी इस विषय में पूरी तरह मौन हैं।

वन अधिकार कानून में एक और पेंच है। इसमें कहा गया है कि ग्राम सभा अपने अधिकार क्षेत्र की सीमाओं में अधिकारों को तय करने की कार्यवाही शुरू करेगी। ये सीमाएं क्या हैं, यह स्पष्ट नहीं है। जो आदिवासी गांव से थोड़ी दूर जंगल के बीच खेती कर रहे हैं उन्हें ग्राम सभा की सीमा में माना जाएगा या नहीं? इसी तरह गांव के लोग अपनी ज़रूरत का निस्तार, वनोपज संग्रह, पशुओं की चराई भी बगल के जंगल में करते हैं। वे ग्राम सभा की सीमा में माने जाएंगे या नहीं? ऐसा न हो कि इन सारे

सामुदायिक अधिकारों के बारे में ग्राम सभा के प्रस्ताव को सरकारी अफसर यह कहकर अमान्य कर दें कि ये क्षेत्र उस ग्राम सभा की सीमा में नहीं हैं।

ये आशंकाएं निराधार नहीं हैं। यदि ऐसा हुआ तो यह एक बड़ी विडंबना होगी। इससे गांव के पास खेती का अधिकार तो लोगों को मिल जाएगा, किंतु जंगल से उनके अधिकार खत्म हो जाएंगे। इससे जंगल और स्थानीय समुदायों का रिश्ता खत्म हो जाएगा। यह वन अफसरों और विश्व बैंक के लिए भी सुविधाजनक होगा। गांव की खेती-ज़मीन का अधिकार आदिवासियों को देकर शेष जंगल कंपनियों को भी दिया जा सकता है। देश के जंगलों को वनीकरण के नाम पर कंपनियों को देने की कवायद बीच-बीच में भारत सरकार के वन एवं पर्यावरण मंत्रालय में चलती रहती है।

अस्तु, वन अधिकार कानून की असली परीक्षा आने वाले समय में देश के वन क्षेत्रों में ही होगी। क्या तवा बांध के विस्थापित आदिवासियों को मछली पकड़ने व डूब की खेती का अधिकार मिलेगा? क्या सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व के आदिवासियों को पत्तल-दोने, भाभर घास, रामबुहारी व शहद बेचने के लिए अब सत्याग्रह नहीं करना पड़ेगा? क्या सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान से बिना पुनर्वास के भगाए गए नीमघान व मढ़ई गांव के आदिवासियों को न्याय मिलेगा? क्या बुरहानपुर व नेपालगर के आदिवासियों पर गोली चालन अब बंद होगा? क्या बैतूल ज़िले में भंडारपानी और दानवाखेड़ा के आदिवासियों के पूरे गांव में आग लगाने जैसी वनकर्मियों की ज़्यादातियां बंद होगी? क्या देवास जिले में जंगल की लकड़ी से घर बनाने पर आदिवासियों पर गोली चालन के मेंहदीखेड़ा जैसे काण्ड अब दोहराए नहीं जाएंगे? क्या डिंडोरी और बिलासपुर की बेगा आदिम जनजाति पर अत्याचार अब बंद होंगे? क्या केरल में फिर किसी जानू को महीनों धरने पर नहीं बैठना पड़ेगा? क्या राजाजी राष्ट्रीय उद्यान में वन गूजरो को अधिकार मिलेंगे?

इन्हीं सवालों के जवाब में वन अधिकार कानून का भी इम्तिहान होगा और इस बात का भी फैसला होगा कि यह देश कुदरत से जुड़े अपने मूल आदिम निवासियों के साथ सभ्यता व इंसानियत का बरताव कर सकता है या नहीं।

(स्रोत विशेष फीचर्स)